RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2024

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम् ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17 अंक - 3 जून-जुलाई-अगस्त-2024

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

पृथ्वीराज चौहान का युग और उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों की मीमांसा

नरेन्द्र सिंह नाथावत

सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)

हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

पृथ्वीराज चौहान तृतीय का युग उत्तर भारत में सांस्कृतिक स्वाभिमान, राजनीतिक संगठन तथा राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। 1180 से 1192 ई. तक शासन करते हुए उन्होंने न केवल प्रतिवेशी राज्यों जैसे नागार्जुन, भण्डानक, भीमदेव द्वितीय, परमादिदेव आदि को पराजित कर अपने राज्य की सीमाओं को विस्तृत किया, बल्कि भारत के पुन:-संगठित साम्राज्य की परिकल्पना भी प्रस्तुत की। राजनीतिक सक्षमता के साथ उनकी योग्यता इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि उन्होंने राजपूत राज्यों के बीच वैवाहिक संबंध स्थापित कर बाह्य आक्रमणों के मुकाबले एकता एवं शक्ति-संतुलन की नीति अपनाई।

डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार वह धर्म तथा संस्कृति की रक्षा हेतु दृढ़ संकल्पी शासक थे, जिन्होंने विधर्मीय आक्रमणों का उग्र प्रतिरोध किया। मोहम्मद गौरी के इस्लामी विस्तारवाद के विरुद्ध उनका संघर्ष केवल राजनीतिक न होकर सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक था। यह राष्ट्र-जागरूकता उस समय चरम पर दिखाई देती है जब तराइन के द्वितीय युद्ध (1192 ई.) में पराजित होने पर, गौरी द्वारा इस्लाम स्वीकारने की शर्त पर राज्य लौटाने का प्रस्ताव उन्होंने निडरता से अस्वीकार कर दिया।

सम्राट पृथ्वीराज चौहान भारतीय इतिहास में केवल एक वीर योद्धा ही नहीं, बल्कि संस्कृति और धर्म के संरक्षक, साहित्य-प्रेमी तथा लोकजीवन से जुड़े उदार शासक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे राजपूत परंपरा के आदर्शों—स्वाभिमान, वीरता, न्यायप्रियता और राष्ट्रनिष्ठा—का मूर्त रूप थे। समकालीन कवि जयानक और चंदरवरदाई की रचनाओं से स्पष्ट होता है कि पृथ्वीराज चौहान का दरबार साहित्य और विद्वत्व का केंद्र था, जहाँ कला, काव्य और इतिहास सभी को सम्मान प्राप्त था।

धार्मिक दृष्टि से वे शैव मत के अनुयायी तथा चौहान कुल की देवी आशापूर्णा के उपासक अवश्य थे, किन्तु उनकी धार्मिक सहिष्णुता अद्वितीय थी। जैन धर्मावलंबियों को पूर्ण स्वाधीनता देना, उनके प्रचारक आचार्यों का सम्मान करना तथा उनके दार्शनिक विकास को संरक्षण देना—यह दर्शाता है कि उनका शासन संकीर्णता से नहीं, उदार दृष्टिकोण से प्रेरित था। जैन आचार्य हरिभद्र, जिनेश्वर सूरि, जिनवल्लभ आदि का कार्यकाल और अजमेर में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों संप्रदायों की समृद्ध

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

परंपरा इसी सहिष्णु वातावरण का परिणाम थी।

अजमेर में पृथ्वीराज के समय सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु, दुर्गा आदि देवताओं की उपासना वर्णित मिलती है, जिससे स्पष्ट होता है कि उस युग में धर्मचर्या बहु-आयामी थी और वैष्णव-शैव दोनों परंपराएँ समान रूप से प्रतिष्ठित थीं। उनके पूर्वज विग्रहराज चतुर्थ की धार्मिक अभिरुचि और साहित्यिक कृति 'हरिकेलि' भी इस सांस्कृतिक विलक्षणता का द्योतक है।

पृथ्वीराज के पतन के बाद अजमेर में मुइनुद्दीन चिश्ती के आगमन से सूफी परंपरा का उदय हुआ और साम्प्रदायिक समरसता को नई दिशा मिली। इस प्रकार पृथ्वीराज का युग न केवल वीरता और स्वाधीनता का युग था, अपितु सांस्कृतिक विकास, धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक सौहार्द का भी स्वर्णकाल माना जा सकता है।

पृथ्वीराज चौहान रामायणकालीन सांस्कृतिक आदर्शों के अनुयायी थे, इसलिए उनके राज्य में धार्मिक पर्व और सामाजिक उत्सवों का आयोजन होता था। गौरी से युद्ध के समय एकादशी व्रत का पालन उनकी धार्मिक निष्ठा का प्रमाण है। वे साहित्य और कला के उत्कृष्ट संरक्षक थे—चंदरवरदाई उनके मित्र और दरबारी कवि थे, साथ ही जयानक, विद्यापति गौड़, विश्वरूप और पृथ्वी भट्ट जैसे विद्वानों को भी उन्होंने संरक्षण दिया।

साहित्य के साथ-साथ चित्रकला को भी उन्होंने प्रोत्साहन दिया। 'पृथ्वीराज रासो' की चित्रयुक्त हस्तलिखित प्रति में युद्ध, दरबार और संयोगिता-हरण जैसे प्रसंगों के साथ प्राचीन कला के सुंदर नमूने मिलते हैं। दिग्विजय लेखों का शौक भी उनकी सांस्कृतिक रुचि को दर्शाता है, जैसे 1239 वि.स. में विजय-लेख का अंकन।

राजनीतिक दृष्टि से वे चौहान सत्ता को संगठित करने, म्लेच्छ आक्रमणों से संस्कृति की रक्षा करने और धार्मिक-सांस्कृतिक समरसता बनाए रखने के लिए प्रयासरत रहे। जयानक ने 'पृथ्वीराज विजय' में उनके शासन को स्वर्णकाल कहा है, तथा उनके जीवन, कूटनीति और प्रथम तराइन विजय का विस्तार से वर्णन किया है। इस प्रकार पृथ्वीराज वीरता, सांस्कृतिक संरक्षण और राष्ट्रीय चेतना—तीनों का अद्वितीय संगम थे।

जयानक ने पृथ्वीराज चौहान के युग को सांस्कृतिक उन्नति का स्वर्णकाल माना क्योंकि इस समय आर्यावर्त की सांस्कृतिक ज्योति सर्वाधिक विकसित थी। पृथ्वीराज न केवल साहसी योद्धा और रसिक शासक थे, बल्कि जन-न्यायक एवं धर्मपालक भी थे। संयोगिता स्वयंवर उनके कलात्मक एवं सांस्कृतिक रुचि का प्रमाण है। स्थापत्य दृष्टि से तारागढ़ दुर्ग श्रेष्ठ माना जाता है, तथा वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण सरस्वती कण्डावर्ण पाठशाला थी जिसे बाद में 'ढ़ाई दिन का झोंपड़ा' रूप में परिवर्तित किया गया। इसे कर्नल टॉड और फर्ग्यूसन दोनों ही ने हिंदू वास्तुकला का अद्वितीय नमूना माना।

पृथ्वीराज वेद-शास्त्र का ज्ञाता और व्यापक विद्या-कला का धनी था। चंदरवरदाई के अनुसार वह 33 विद्याओं तथा 77 कलाओं में प्रवीण था। संस्कृत, मागधी, प्राकृत, शूरसेनी आदि भाषाओं के साथ चिकित्सा, गणित, संगीत और वीणा वादन में भी पारंगत था। नयनचंद्र सूरी ने उसकी कला-प्रियता तथा न्यायनिष्ठा का उल्लेख किया है। प्रशासनिक रूप से वह परामर्श-प्रधान नीति अपनाता था,

मन्त्रियों के मत के बिना कोई निर्णय नहीं लेता था। पुलिस, न्याय, राजस्व व्यवस्था सुव्यवस्थित थी और इस युग में उससे बेहतर व्यवस्थापक मिलना कठिन था।

धर्म, संस्कृति और राष्ट्र–सुरक्षा के प्रति उसकी निष्ठा अभिलेखीय प्रमाणों से सिद्ध है। 1180 ई. के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने लोकेश्वर मन्दिर हेतु भूमिदान प्रदान कर धार्मिक संस्थाओं की सेवा की। दान भूमि करों से मुक्त होती थी। उसके सिक्कों पर स्वयं उसका नाम अंकित होना उसकी संप्रभुता और स्वतंत्र सत्ता का चिह्न है। इस प्रकार पृथ्वीराज चौहान का शासन केवल वीरता का प्रतीक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक उत्कर्ष, प्रशासनिक दक्षता और राष्ट्रीय गौरव की समग्र अभिव्यक्ति था।

19वीं शताब्दी में तारागढ़ से प्राप्त 1193 ई. का पृथ्वीराज कालीन सिक्का—जिसमें एक ओर अश्वारोही पृथ्वीराज और दूसरी ओर बैल का चित्र अंकित है—चौहान सत्ता की संप्रभुता तथा धार्मिक-सांस्कृतिक आस्था का द्योतक है। मन्दिरों हेतु भूमिदान की परम्परा तथा अभिलेखीय उल्लेख पृथ्वीराज की धर्मनिष्ठा और सांस्कृतिक चेतना को प्रमाणित करते हैं। इनके अतिरिक्त 'पृथ्वीराज रासो', 'पृथ्वीराज विजय', 'कान्हड़देव प्रबन्ध', 'हम्मीर महाकाव्य', 'सुर्जन चरित्र', 'कुमारपाल चरित्र' आदि ग्रंथ इस काल की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति स्पष्ट करते हैं।

पृथ्वीराज चौहान महान सेनानायक, विजयी सम्राट और हिन्दू साम्राज्य के संरक्षक थे। सिंहासनारोहण के बाद उन्होंने दिग्विजय नीति अपनाकर न केवल अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया बल्कि आंतरिक अव्यवस्था का दमन कर शासन को संगठित भी किया। चालुक्यों, गहड़वालों, चंदेलों, भण्डानकों और नार्गाजुन जैसे बाहरी व आंतरिक शत्रुओं का सामना कर चौहान साम्राज्य को सुरक्षित तथा प्रभावशाली बनाया।

जब वह गद्दी पर बैठा, उत्तर-पश्चिम से मुस्लिम आक्रमणों का दबाव था, जिसका नेतृत्व मोहम्मद गौरी कर रहा था। दक्षिण-पश्चिम में गुजरात के चालुक्य, पूर्व में कन्नौज के जयचन्द, दक्षिण-पूर्व में महोबा के चंदेल तथा उत्तर में भण्डानक—सब उसकी सत्ता को चुनौती दे रहे थे। नार्गाजुन जैसे समीपति शत्रुओं ने विद्रोही स्थिति उत्पन्न की थी। ऐसे विकट अवसर पर पृथ्वीराज ने आक्रमणकारी नीति अपनाकर शत्रुओं में भय उत्पन्न किया और अपनी प्रभुसत्ता को स्थापित किया।

पृथ्वीराज की प्रारम्भिक विजयें :

सिंहासन ग्रहण करते ही पृथ्वीराज को सबसे पहले अपने ही निकट सम्बंधी नार्गाजुन की चुनौती का सामना करना पड़ा, जिसने गुड़गाँव पर अधिकार कर विद्रोह कर दिया था। पृथ्वीराज ने इस विद्रोह को निर्णायक रूप से दबाकर अपनी सत्ता को सुरक्षित किया। इसके तुरंत बाद चौहान राज्य के भीतर भण्डानक विद्रोह एक बड़ी समस्या बनकर उभरा। भण्डानकों ने रेवाड़ी, भिवानी तथा अलवर के कुछ भागों पर नियंत्रण कायम कर लिया था, जिससे राज्य की एकता और सुरक्षा पर संकट था।

जिनपति सूरी ने अपनी रचना में उल्लेख किया है कि पृथ्वीराज ने भण्डानकों को शक्ति और साहस से परास्त किया। इन विद्रोहियों का दमन केवल क्षेत्रीय सीमा की रक्षा भर नहीं था, बल्कि चौहान साम्राज्य के विस्तार में बाधाओं को हटाने वाला निर्णायक कदम भी था।

इन प्रारम्भिक सैन्य सफलताओं ने पृथ्वीराज को केवल एक वीर सेनानायक ही नहीं, बल्कि एक सक्षम शासक के रूप में प्रतिष्ठित किया। नार्गाजुन तथा भण्डानकों को खत्म कर पृथ्वीराज ने अजमेर से दिल्ली तक एक मजबूत प्रशासनिक सूत्र तैयार किया, जिससे चौहान साम्राज्य की राजनीतिक एकता और आन्तरिक स्थिति अत्यंत सुदृढ़ हुई।

पृथ्वीराज तृतीय की दिग्विजयः

चौहान साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए पृथ्वीराज ने अपने आसपास के राज्यों पर प्रभुत्व स्थापित करने की योजना बनाई। भण्डानकों को परास्त करने के बाद उसकी सीमा चन्देलों से मिल गई, इसलिए साम्राज्य विस्तार के लिए चन्देलों से संघर्ष किया गया। 1182 ई. में पृथ्वीराज ने चन्देलों पर आक्रमण किया। जिनपाल की खत्तरगच्छ पट्टावली से ज्ञात होता है कि उसकी सेना ने नारायण स्थान पर डेरा डाला और चन्देल राज्य की बस्तियों पर हमला किया। पृथ्वीराज ने सिरस्या पर अधिकार कर महोबा तक पहुंचकर निर्णायक युद्ध किया, जिसमें चन्देलों के प्रसिद्ध वीर आल्हा और उदल मारे गए तथा परमर्दी पराजित हुआ। यह पृथ्वीराज की बड़ी विजय मानी गई। विजय के बाद पृथ्वीराज ने अपने सामंत पन्तुनराय को महोबा का शासक नियुक्त किया। मदनपुर शिलालेख, सोरगधर पद्धति और प्रबन्ध चिन्तामणि जैसे स्रोत भी 1182 ई. में पृथ्वीराज की विजय की पुष्टि करते हैं। इस युद्ध से चौहान साम्राज्य की सीमा सुरक्षित हुई और पृथ्वीराज की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ी। यद्यपि अगले वर्ष चन्देलों ने खोए क्षेत्र फिर वापस ले लिए, फिर भी यह विजय पृथ्वीराज की सैन्य क्षमता और दिग्विजय नीति का महत्वपूर्ण उदाहरण बनकर सामने आई।

गुजरात के चालुक्यों के साथ संघर्ष :

चन्देलों को परास्त करने के बाद पृथ्वीराज ने गुजरात के चालुक्यों पर ध्यान दिया। चालुक्य शासक भीमदेव द्वितीय मारवाड़ तक अपना प्रभाव बढ़ा रहा था तथा चौहानों की सीमाएँ उससे मिलती थीं, इसलिए दोनों शक्तियों में संघर्ष होना स्वाभाविक था। 1184 से 1187 ई. तक चला यह युद्ध पृथ्वीराज की विजय के साथ समाप्त हुआ। खत्तरगच्छ पट्टावली तथा वेरावल शिलालेख इस अभियान की पुष्टि करते हैं। 1187 ई. में प्रतिहार जगदेव के प्रयासों से दोनों में संधि हुई, जिससे चौहान साम्राज्य सुरक्षित हुआ।

अब पृथ्वीराज की प्रतिद्वंद्विता उत्तर-पूर्व के गहड़वाल शासक जयचन्द से बढ़ी। दोनों साम्राज्यवादी प्रवृत्ति रखते थे और दिल्ली पर आधिपत्य की होड़ भी उनके संघर्ष का कारण थी। पृथ्वीराज की लगातार सफलताओं से जयचन्द ईर्ष्यालु हो उठा। संयोगिता हरण की घटना ने दोनों के संबंधों को और अधिक कटु बनाया। डॉ. दशरथ शर्मा ने इस घटना को ऐतिहासिक माना है।

राजनीतिक विजय के साथ-साथ पृथ्वीराज मुस्लिम आक्रमणों के विरुद्ध भी एक प्रभावी शक्ति बनकर उभरा। उसने मोहम्मद गौरी को अनेक बार पराजित किया। पृथ्वीराज रासो, प्रबन्धकोष, हम्मीर महाकाव्य आदि में उसके द्वारा गौरी को कई बार हराने और बंदी बनाने का उल्लेख मिलता है। तराइन के प्रथम युद्ध (1191 ई.) में गौरी की पराजय पृथ्वीराज की सैनिक क्षमता और साहस का चरम उदाहरण थी। उसने पराजित शत्रु का पीछा न करके उदारता दिखाई।

तराइन के द्वितीय युद्ध (1192 ई.) में वह छल से पराजित हुआ, जैसा जामी-उल-हिकायत में उल्लेखित है। यह पराजय वीरता नहीं बल्कि धोखे से प्राप्त हुई। पृथ्वीराज ने अपने जीवनकाल में भण्डानकों, चन्देलों, चालुक्यों तथा जयचन्द सभी को चुनौती देकर चौहान सत्ता को सुदृढ़ किया। वह हिन्दू सत्ता का रक्षक और महान साम्राज्य निर्माता सिद्ध हुआ।

पृथ्वीराज चौहान का जीवन उत्तर भारत के मध्यकालीन इतिहास का महत्वपूर्ण अध्याय है। संयोगिता स्वयंवर और तुर्कों के विरुद्ध संघर्ष की कथाएँ इसे और अधिक ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करती हैं। पृथ्वीराज रासो जैसे ग्रंथों ने उसकी वीरता को चिरस्मरणीय बना दिया, यद्यपि इस ग्रंथ के कालक्रम और ऐतिहासिकता को लेकर विद्वानों में विवाद रहा है। तथापि, पृथ्वीराज का व्यक्तित्व वीरता, राष्ट्ररक्षा और हिन्दू संस्कृति के संरक्षण का प्रतीक बनकर इतिहास में अविस्मरणीय स्थान प्राप्त करता है।

पृथ्वीराज रासो के रचनाकाल पर विविध पक्ष :-

पृथ्वीराज रासो के रचनाकाल तथा प्रमाणिकता को लेकर विद्वानों में विविध मत पाए जाते हैं। रासो की कथा में पृथ्वीराज चौहान के विवाह, दिग्विजय और गौरी से संघर्ष वर्णित हैं, परन्तु कई इतिहासकार इसे ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं मानते।

प्रमुख इतिहासकार जैसे कविराज मुरारीदान, कविराज श्यामलदास तथा पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा 16वीं शताब्दी से पूर्व रासो की रचना नहीं मानते। 1873 में जब 'एशियाटिक सोसायटी' ने रासो का प्रथम प्रकाशन किया, तभी इसके इतिहासबोध पर संदेह उठे। बाद में जब प्रो. भूलर को कश्मीर में 'पृथ्वीराज विजय' (संस्कृत में) प्राप्त हुआ, जिसे समकालीन रचना माना गया, तो रासो की प्रमाणिकता पर और प्रश्न खड़े हुए। इस शोध के आधार पर रासो का प्रकाशन कुछ समय के लिए बंद भी हुआ।

इसके बाद अनेक विद्वानों ने रासो की त्रुटियाँ उजागर कीं। कविराज श्यामलदास, बाबू रामनारायण दुग्गड़, अमृतलाल शील, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. रामकुमार वर्मा आदि रासो को अनैतिहासिक मानते हैं। उनका मत है कि रासो एक विशाल संगृहीत कृति है, जिसके अधिकांश भाग बाद में जोड़े गए और समकालीन ग्रंथ नहीं।

दूसरी ओर विरोधी मत के विद्वान रासो को महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्रोत मानते हुए इसके अप्रमाणिक सिद्ध करने को अस्वीकार करते हैं। इस पक्ष में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, डॉ. सत्येंद्र, डॉ. नामवर सिंह आदि प्रमुख हैं। पंजाब विश्वविद्यालय के मधुराप्रसाद दीक्षित ने 7000 छंदों वाले मूल रासो का संपादन प्रस्तुत कर विस्तृत तर्क दिए कि यह कृति अत्यन्त प्राचीन है।

अन्ततः रासो की ऐतिहासिकता विवादित रहते हुए भी उसका साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्व निर्विवाद माना जाता है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इसे अधिकतम 14वीं शताब्दी की रचना माना, जिससे स्पष्ट होता है कि रासो का मूल भाग प्राचीन और बाद के अंश परवर्ती काल में जोड़े गए। इस प्रकार रासो का रचनाकाल और प्रमाणिकता दोनों ही विद्वानों के लिए लंबे समय से चर्चा और अनुसंधान का विषय बने हुए हैं।

पृथ्वीराज रासो के रचयिता चंद्रबरदाई को 12वीं शताब्दी का कवि माना गया है। समकालीन साहित्यकारों—मनीषी, व्यापरी और दामोदर शर्मा—का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि रासो उसी काल की कृति है। 'मुक्ति-व्यक्ति' में जिस प्रकार संदेश काव्य की शुरुआत होती है, उसी शैली में रासों का प्रारम्भ भी मिलता है। संदेश काव्य के विषय में नायक-नायिका का प्रेम, कन्याहरण और शत्रु-विजय जैसे प्रसंग प्रमुख होते हैं। यही प्रवृत्ति बाणभट्ट की 'हर्षचरित' में भी मिलती है। हर्षचरित की तरह यहाँ भी कवि-कल्पना का महत्व ऐतिहासिकता से अधिक है—राजा का विवाह, वनविहार, प्रेम-क्रीड़ा, युद्ध विजय, विलास, नृत्य-गान आदि मुख्य विषय हैं।

इसी आधार पर रासो के रचयिता चंद्र कवि पृथ्वीराज के समकालीन सिद्ध होते हैं और इसका प्रणयनकाल 12वीं विक्रम शताब्दी माना जाता है। कवि साहित्यिक परम्परा से कुछ ग्रहण करता है, कुछ अपने परिवेश से तथा कुछ मौलिक चिंतन से—इसीलिए रासो में प्रक्षिप्तांश होने पर भी इसकी मूल काव्य-परम्परा स्पष्ट रहती है।

रासो की काव्य परम्परा संदेश-शासक की परम्परा से जुड़ी है, न कि परवर्ती भक्ति-कालीन शैली से। यदि रचना 16वीं-17वीं शताब्दी की होती, तो निश्चित ही उस समय की प्रचलित भक्ति परम्पराओं की छाप स्पष्ट होती; जबकि रासो में ऐसी विशेषताएँ न्यून हैं। इसलिए इसे 12वीं से 14वीं शताब्दी के मध्य की प्रामाणिक रचना कहा गया है। इसी मत का समर्थन डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ भी करते हैं कि रासो का मूल गठन 12वीं-14वीं शताब्दी में ही हुआ।

चौहान वंश का पृथ्वीराज तृतीय अत्यंत महत्वपूर्ण शासक था, जिसका साम्राज्य सांभर, अजमेर, हर्षनाथ से लेकर दिल्ली तक फैला हुआ था और राजधानी अजमेर रही। 1179 ई. में पिता सोमेश्वर की मृत्यु के बाद अल्पायु पृथ्वीराज गद्दी पर बैठा, तब उसकी माता कर्पूरदेवी ने राज्य-व्यवस्था का भार सम्भाला और कदम्बवास को मुख्यमंत्री तथा भुवनैकमल को प्रधानमंत्री नियुक्त किया। इस दौरान पृथ्वीराज को उत्तम शिक्षा दी गई, जिससे वह शीघ्र ही शासन, युद्धनीति और दिग्विजय के योग्य बन गया।

युवावस्था में ही उसने राष्ट्र, स्वतंत्रता तथा संस्कृति-रक्षा का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया, जिसके कारण उसे 'भारत का अंतिम हिन्दू सम्राट' कहा जाता है। वह विद्वानों और पंडितों का संरक्षक था। कश्मीर के 'जयानक' जैसे विद्वान उसके दरबार में आए और उन्होंने 1192 ई. के आसपास 'पृथ्वीराज विजय' नामक संस्कृत महाकाव्य की रचना की। यह पृथ्वीराज काल का प्रमुख ऐतिहासिक ग्रंथ है, जिसमें चौहान वंश की उत्पत्ति, सपादलक्ष की व्यवस्था, पृथ्वीराज का व्यक्तित्व और उसके युद्धों, विशेषकर तराइन के प्रथम युद्ध में मुहम्मद गौरी पर विजय का वर्णन मिलता है। जयानक ने पृथ्वीराज को पुरुषोत्तम राम के तुल्य आदर्श चरित्र के रूप में चित्रित किया है।

अपने शासनकाल में पृथ्वीराज निरंतर युद्धरत रहा। उसकी दिग्विजय नीति के अंतर्गत अपरगांग्य, नागार्जुन, पश्चिमी सूरसेन, चन्देल, परमार आदि राज्यों को परास्त किया। दिल्ली, कुरुक्षेत्र, गुहिल, चन्द्रावती आदि क्षेत्र उसके अधीन थे। नागार्जुन पर विजय के युद्ध का वर्णन 'पृथ्वीराज विजय' में अत्यंत जीवंत रूप में मिलता है, जिसमें उसके साहस और युद्धकुशलता का चित्रण है।

जयानक ने तुर्क आक्रमणों को गंभीर बताते हुए भारतीय नरेशों को एकता और विलासिता-

त्याग का संदेश भी दिया। इन सब आधारों पर पृथ्वीराज का व्यक्तित्व वीरता, सांस्कृतिक चेतना और राष्ट्रभावना का प्रेरक प्रतीक बनकर उभरता है।

'पृथ्वीराज विजय' से स्पष्ट है कि जयानक तत्कालीन भारत की स्थिति को देखकर अत्यंत चिंतित थे। उन्होंने भारतीय शासकों की फूट पर खेद व्यक्त करते हुए राजनीतिक एकात्मता को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया। वे मानते थे कि मातृभूमि का उद्धार वही क्षत्रिय कर सकता है जो पराक्रम और दया का सागर हो। पृथ्वी मलेच्छों से आक्रांत है और वीर उद्धारक की अपेक्षा करती है — यही दृष्टि जयानक राजत्व का आधार मानते हैं।

जयानक ने पृथ्वीराज को रामावतार सिद्ध करने के लिए उनके भाई हरिराज को लक्ष्मण तथा तिलोत्तमा को सीता के रूप में संकेतित किया, जबकि कदम्बवास और भुवनैकमल को हनुमान और गरुड़ की संज्ञा दी। यह सारा निरूपण पृथ्वीराज की वीरता और नैतिकता को रामकथा के आदर्शों में प्रतीक रूप से प्रतिष्ठित करता है। गुजरात पर आक्रमण के समय मोहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज को अधीनता स्वीकार करवाने का प्रस्ताव भेजा, जिसे स्वाभिमानी पृथ्वीराज ने उपहासपूर्वक अस्वीकार कर दिया। उसी समय, गुर्जर और गौरी के युद्ध में कदम्बवास ने कूटनीतिक नीति अपनाकर दोनों शत्रुओं को परस्पर संघर्ष में उलझने दिया, और गुजरात की विजय से पृथ्वीराज को अप्रत्यक्ष सफलता मिली।

जयानक के अनुसार पृथ्वीराज का युद्ध-चेतना का मूल उद्देश्य आर्यावर्त और धर्म की रक्षा था। 1191 ई. में उसने 100 राजाओं का संघ बनाकर गौरी को हराया, जबकि 1192 ई. में 150 राजाओं के संघ के बावजूद पराजय हुई, पर उसके आदर्श अडिग रहे। उसके युद्ध केवल शक्ति-प्राप्ति नहीं बल्कि धर्म-संरक्षण की प्रेरणा से संचालित थे। जयानक स्पष्ट कहते हैं कि गौ-मांस भक्षी मलेच्छों की समस्या केवल एक राज्य की नहीं, पूरे भारत की थी; पर किसी ने स्थायी समाधान नहीं सोचा — केवल पृथ्वीराज ने संघर्ष को राष्ट्र-धर्म का स्वरूप दिया। यद्यपि विजय अंततः न मिली, पर उसका त्याग और प्रयास स्मरणीय और युग-प्रेरक बनकर आज भी इतिहास में प्रतिष्ठित है।

जयानक ने तराईन के दूसरे युद्ध का वर्णन इसलिए नहीं किया क्योंकि वह अपने नायक पृथ्वीराज की गौरवगाथा को पराजय के उल्लेख से कलुषित नहीं करना चाहते थे। उनके लिए पृथ्वीराज का चरित्र राष्ट्ररक्षक और रामावतार के रूप में प्रतिष्ठित था; ऐसे नायक की अंतिम पराजय लिखना उनके उद्देश्य के विपरीत होता।

12वीं शताब्दी में चौहान शासन अत्यंत सशक्त था, और पृथ्वीराज का साम्राज्य सांभर से दिल्ली तक विस्तृत था। वह न केवल वीर योद्धा बल्कि कुशल प्रशासक था। मध्यकालीन राजपूतों की भांति चौहान राजा सर्वोच्च सत्ता का स्रोत माना जाता था। 'पृथ्वीराज विजय' में उसे भगवान राम का अवतार बताया गया — यह राजा की धार्मिक और नैतिक प्रतिष्ठा को दर्शाता है।

राजकीय उपाधियाँ — परमभट्टारक, परमेश्वर, महाराजाधिराज आदि उसकी सार्वभौमिक सत्ता को सूचित करती थीं। प्रशासन के तीनों अंगों — कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का अंतिम निर्णय राजा ही करता था। विदेश नीति और सैन्य संगठन उसके नियंत्रण में थे।

मुख्य महिषी और युवराज की व्यवस्था भी प्रभावशाली थी। पृथ्वीराज के अल्पायु होने पर उनकी माँ 'कर्पूरदेवी' ने संरक्षिका के रूप में शासन सम्भाला। युवराजों को उत्तराधिकार के साथ

सैनिक और प्रशासनिक दायित्व भी सौंपे जाते थे तथा उनके सम्मान में विशेष आयोजन होते थे।

चौहान राज्य में सामन्त व्यवस्था अत्यंत विकसित थी। सामन्त अपने क्षेत्र में अधिकारी थे, परन्तु पूर्ण स्वतंत्र नहीं। उनमें से कुछ वंशानुगत पदाधिकारी थे, जबकि कुछ वे शासक थे जिनके प्रदेश चौहानों द्वारा जीत लिये गये थे। सामन्तों की जिम्मेदारी थी कि युद्ध में राजा की सहायता करें और राज्य को राजस्व दें। पृथ्वीराज के समय दिल्ली, हाँसी और अन्य क्षेत्रों के सामन्तों ने सक्रिय सहयोग दिया।

पृथ्वीराज तृतीय के दरबार में प्रशासनिक ढाँचा सुव्यवस्थित और संगठित था। महामंत्री या महामात्य राज्य के सभी महत्वपूर्ण कार्यों में प्रमुख होता था और उसके पास राजकीय मोहर होती थी। वह राजा का विश्वस्त सहयोगी माना जाता था। पृथ्वीराज विजय और खतरगच्छ पट्टावली के अनुसार कदम्बवास लम्बे समय तक महामंत्री रहे, लेकिन रासो में उल्लेख है कि कदम्बवास के विश्वासघात के बाद उसका वध करवा दिया गया। विग्रहराज चतुर्थ के समय श्रीधर और सलक्षणपाल जैसे महामंत्री प्रभावशाली रहे। सेनापति पूरे सैन्य संगठन के मुख्य प्रभारी थे और पृथ्वीराज के समय स्कन्द इस पद पर रहे। सेना में हजारों हाथी, एक लाख घुड़सवार और असंख्य पैदल सैनिक थे। सेनापति के अधीन दुसाध्य, साधनिक और बलादित्य जैसे पदाधिकारी कार्य करते थे। सामन्तों की संख्या सौ से पचास तक बताई गई है। सन्धि-विग्रहक विदेशी मामलों और युद्ध तथा शान्ति प्रबंधन के लिए जिम्मेदार था। पृथ्वीराज के समय वामन प्रमुख सन्धि-विग्रहक थे। धार्मिक मामलों में पंडित दरबार में नियुक्त रहते थे, जो धार्मिक कार्यों में सहयोग देते थे। पृथ्वीराज विजय के अनुसार पद्मनाम प्रमुख पंडित था, जबकि खरतरगच्छ पट्टावली में वागीश्वर, जनार्दन गौड़ और विद्यापति आदि भी नियुक्त थे। अन्य मंत्रियों और अधिकारियों में सुतक प्रतिहार, भट्टपुत्र, तंत्रपाल, ज्योतिषाचार्य, चाट-भाट, हिन्दीपक, प्रतिसारक, भण्डाग्रहिक, अक्षयपट्टालिक, भिषजाचार्य, शिलहट्ट और परिग्रहिक शामिल थे। पृथ्वीभट्ट प्रमुख भट्टपुत्र थे, जो इतिहास और राज्य मामलों में प्रवीण थे, और परिग्रहिक राजा के आदेशों को लिपिबद्ध करता था। इस प्रकार, प्रशासनिक ढाँचा चौहान साम्राज्य की स्थिरता और विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था।

चौहान साम्राज्य में प्रान्तीय शासन सुव्यवस्थित था और साम्राज्य को कई प्रान्तों में विभाजित किया गया था, जिन्हें विषय कहा जाता था। हर्ष मन्दिर शिलालेख (वि.सं. 1030) के अनुसार प्रमुख विषयों में सीकर जिले का पटोदा, मारोठ के निकट सरगोठ, सीकर के निकट ढाका, खादु का खट्टकूप और जयपुर शामिल थे। शिवालिक स्तम्भलेख (वि.सं. 1220) के अनुसार साम्राज्य में अनेक प्रान्त थे, जिनमें सीमा पर झड़पें होती रहती थीं और बाद में कुछ प्रान्त मुस्लिम सेना द्वारा कब्जा कर लिए गए।

चौहान शासक किलों के निर्माण और सुरक्षा पर विशेष ध्यान देते थे। प्रमुख मण्डलों में शाकम्भरी सारस्वत, ऊपरमाल, दिल्ली भण्डानक, विक्रमपुर और हरियाणा थे, जिनके प्रमुख को महामण्डलेश्वर कहा जाता था। मण्डलों को परगनों में विभाजित किया गया था, जिनके अंतर्गत ग्राम और नगर आते थे। परगनों में पट्टकिल, बलादित्य और तालारसिलाहट्ट जैसे अधिकारी कार्यरत थे। भ्रष्ट पदाधिकारियों को कड़ी सजा दी जाती थी।

स्थानीय प्रशासन गांव और नगर स्तर पर संचालित होता था। ग्राम संभाएँ, पंचकुल और

महाजन सभाएँ स्थानीय प्रबन्ध के लिए कार्य करती थीं। समरइकच्छ में पंचकुलों के पाँच सदस्य होते थे। राजपाल के समय (वि.सं. 1198) के शिलालेख में धालोप के नागरिकों द्वारा प्रत्येक वार्ड के दो सदस्य सहित एक सभा की स्थापना का उल्लेख है।

चौहान साम्राज्य में राजस्व राज्य का प्रमुख आधार था, जिसमें भूमि कर, अन्य कर और प्राकृतिक संसाधनों का दोहन शामिल था। फलौदी शिलालेख (वि.सं. 1236) के अनुसार कुल उत्पादन का पाँचवाँ हिस्सा भू-राजस्व के रूप में लिया जाता था, जिसे नगद कर 'भोग' कहा जाता था। कुछ कर सीधे करदाता के वेतन से काट लिए जाते थे, जिन्हें ताहार मात्य और शिलहट्ट मात्य कहा गया। वन संपदा और खनिज संसाधनों पर राज्य का पूर्ण अधिकार था और उन्हें ठेके पर दोहन करवाया जाता था। फलौदी और बिजौलिया के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि भूमि से प्राप्त करों का कुछ हिस्सा धार्मिक आयोजनों और मंदिरों के रख-रखाव में लगाया जाता था।

न्याय व्यवस्था चौहान साम्राज्य में व्यवस्थित थी। धोंद शिलालेख (वि.सं. 1228) में जमीन और घर के विक्रय-पट्टे का उल्लेख मिलता है, जिससे कानूनी कार्यवाहियों में लिखित प्रमाण की प्रचलना स्पष्ट होती है। दंड देने में जातिगत भेदभाव होता था; ब्राह्मणों को कम दंड और ब्राह्मण हत्या के लिए कठोर दंड मिलता था। राजा विधि और न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था। सुरक्षा और पुलिस व्यवस्था 'तलारक्षक' द्वारा संचालित होती थी। पुलिस थाने और गुल्म गोल्मिक नामक अधिकारियों के अधीन होते थे, और जिलास्तरीय अधिकारियों में चोरोद्धरणिक और दंडपाशिक शामिल थे।

चौहान शासकों ने भारतीय संस्कृति के समन्वयवाद को भी महत्व दिया। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच सहिष्णुता और स्वतंत्रता बनी रही, जिससे जनता अपने विश्वास के अनुसार किसी भी प्रचलित धर्म का पालन कर सकती थी।

पृथ्वीराज चौहान के काल में धर्मों के बीच समन्वय और सहिष्णुता स्पष्ट थी। वह अपने धर्म की रक्षा करता था, फिर भी अन्य धर्मों का आदर करता था। इस कारण उसके शासन में हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म फल-फूल रहे थे। अधिकांश चौहान शैव थे, पर जैन धर्म के प्रति भी सहिष्णु थे। अलबरूनी के अनुसार भारतीय धार्मिक विवाद कम होते थे और लोग परस्पर आदर रखते थे।

पृथ्वीराज चौहान के युग में प्रचलित प्रमुख धर्म एवं सम्प्रदाय :

पृथ्वीराज चौहान के काल में हिन्दू धर्म प्रमुख था और वह स्वयं इसके संरक्षण में न केवल सक्रिय था बल्कि वैदिक परंपराओं के पालन और देवी-देवताओं की पूजा में विशेष श्रद्धा रखता था। उसके शासनकाल में यज्ञों और धार्मिक अनुष्ठानों का महत्व बना हुआ था, जिसमें कई बार पशु बलिदान का भी प्रावधान था, जैसा कि उस समय के जैन ग्रन्थों में निषेध के रूप में उल्लेखित है। चौहान शासक शैव धर्मावलम्बी थे और शिव पूजा में उनकी गहरी आस्था थी, फिर भी वे अन्य हिन्दू सम्प्रदायों जैसे वैष्णव परंपरा के प्रति भी सहिष्णु दृष्टिकोण रखते थे।

जैन धर्म के प्रसार में भी इस युग का योगदान महत्वपूर्ण रहा। जैन आचार्य हरिभद्र और हेमचन्द्र सूरि जैसे विद्वानों ने चौहान शासकों के सहयोग से जैन धर्म के अनुयायियों को सम्मान और

संरक्षण प्रदान किया। पृथ्वीराज के दरबार में जैन आचार्यों की उपस्थिति ने उसे धर्म–निरपेक्ष शासक के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म इस समय पतन की ओर था, जिसका मुख्य कारण शासकों का संरक्षण न मिलना और धर्म का आंतरिक विभाजन था।

इस्लाम धर्म का प्रवेश चौहान साम्राज्य में 8वीं सदी से शुरू हुआ था, लेकिन प्रारम्भ में शासकों ने इस्लाम के प्रसार को रोकने का प्रयास किया और उनकी सीमावर्ती प्रान्तों में सत्ता स्थापित होने नहीं दी। 12वीं शताब्दी के अंत तक मोहम्मद गौरी के आक्रमणों के कारण इस्लाम का प्रभाव धीरे–धीरे राजस्थान में व्यापक रूप से फैलने लगा। अजमेर इस समय धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय का केन्द्र बना, जहाँ हिन्दू, जैन, बौद्ध और इस्लाम धर्म के अनुयायी फल–फूल रहे थे। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने सरल और व्यवहारिक इस्लामी सिद्धांतों के माध्यम से जनता को प्रभावित किया, जिससे अजमेर का धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र अत्यधिक समृद्ध हुआ।

पृथ्वीराज चौहान का शासन धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण, धार्मिक सहिष्णुता और युद्ध नीति में संतुलित था। वह राज्य की अखंडता, आंतरिक शांति और विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा सुनिश्चित करने हेतु निरंतर सक्रिय रहा। प्राचीन परंपरा के अनुसार योग्य राजा अपने राज्य का विस्तार करने और रक्षा हेतु दिग्विजय अभियानों में संलग्न रहता था। पृथ्वीराज ने भी अपने राज्य की सीमाओं की रक्षा, आंतरिक विरोधियों से मुक्ति और विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध संघर्ष में अपने प्राणों का बलिदान दिया। यद्यपि 1192 में गौरी के हाथों उसकी पराजय हुई, इसके बावजूद उसका प्रयास और आदर्श, धर्म की रक्षा और संस्कृति के संरक्षण के लिए संघर्षशील राजा के रूप में आज भी स्मरणीय है।

पृथ्वीराज चौहान के काल में हिन्दू धर्म प्रमुख था और वह स्वयं इसके संरक्षण में न केवल सक्रिय था बल्कि वैदिक परंपराओं के पालन और देवी–देवताओं की पूजा में विशेष श्रद्धा रखता था। उसके शासनकाल में यज्ञों और धार्मिक अनुष्ठानों का महत्व बना हुआ था, जिसमें कई बार पशु बलिदान का भी प्रावधान था, जैसा कि उस समय के जैन ग्रन्थों में निषेध के रूप में उल्लेखित है। चौहान शासक शैव धर्मावलम्बी थे और शिव पूजा में उनकी गहरी आस्था थी, फिर भी वे अन्य हिन्दू सम्प्रदायों जैसे वैष्णव परंपरा के प्रति भी सहिष्णु दृष्टिकोण रखते थे।

जैन धर्म के प्रसार में भी इस युग का योगदान महत्वपूर्ण रहा। जैन आचार्य हरिभद्र और हेमचन्द्र सूरि जैसे विद्वानों ने चौहान शासकों के सहयोग से जैन धर्म के अनुयायियों को सम्मान और संरक्षण प्रदान किया। पृथ्वीराज के दरबार में जैन आचार्यों की उपस्थिति ने उसे धर्म–निरपेक्ष शासक के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म इस समय पतन की ओर था, जिसका मुख्य कारण शासकों का संरक्षण न मिलना और धर्म का आंतरिक विभाजन था।

इस्लाम धर्म का प्रवेश चौहान साम्राज्य में 8वीं सदी से शुरू हुआ था, लेकिन प्रारम्भ में शासकों ने इस्लाम के प्रसार को रोकने का प्रयास किया और उनकी सीमावर्ती प्रान्तों में सत्ता स्थापित होने नहीं दी। 12वीं शताब्दी के अंत तक मोहम्मद गौरी के आक्रमणों के कारण इस्लाम का प्रभाव धीरे–धीरे राजस्थान में व्यापक रूप से फैलने लगा। अजमेर इस समय धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय का केन्द्र बना, जहाँ हिन्दू, जैन, बौद्ध और इस्लाम धर्म के अनुयायी फल–फूल रहे थे। ख्वाजा मुईनुद्दीन

चिश्ती ने सरल और व्यवहारिक इस्लामी सिद्धांतों के माध्यम से जनता को प्रभावित किया, जिससे अजमेर का धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र अत्यधिक समृद्ध हुआ।

पृथ्वीराज चौहान का शासन धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण, धार्मिक सहिष्णुता और युद्ध नीति में संतुलित था। वह राज्य की अखंडता, आंतरिक शांति और विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा सुनिश्चित करने हेतु निरंतर सक्रिय रहा। प्राचीन परंपरा के अनुसार योग्य राजा अपने राज्य का विस्तार करने और रक्षा हेतु दिग्विजय अभियानों में संलग्न रहता था। पृथ्वीराज ने भी अपने राज्य की सीमाओं की रक्षा, आंतरिक विरोधियों से मुक्ति और विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध संघर्ष में अपने प्राणों का बलिदान दिया। यद्यपि 1192 में गौरी के हाथों उसकी पराजय हुई, इसके बावजूद उसका प्रयास और आदर्श, धर्म की रक्षा और संस्कृति के संरक्षण के लिए संघर्षशील राजा के रूप में आज भी स्मरणीय है।

पृथ्वीराज चौहान के सैन्य अभियान उनके दिग्विजय और साम्राज्य विस्तार की नीति का स्पष्ट उदाहरण हैं। महोबा विजय में 1182 ई. में चन्देल राजा परमर्दी देव द्वारा पृथ्वीराज के जख्मी सैनिकों की हत्या के प्रतिशोध में पृथ्वीराज ने महोबा राज्य पर आक्रमण किया। इस अभियान में आल्हा और उदल जैसे योद्धाओं की मदद से उसने महोबा का अधिकांश भाग जीत लिया और सामन्त पन्जुनराय को महोबा का अधिकारी नियुक्त किया। हालांकि यह अभियान अधिकतर सैनिक दृष्टि से सफल रहा, राजनीतिक दृष्टि से इसकी सफलता सीमित रही।

चालुक्य विजय के पीछे मुख्य कारण सीमावर्ती क्षेत्रों पर नियंत्रण की आकांक्षा थी। चालुक्य राजा भीम द्वितीय का विस्तार किराडू और नाडौल तक था, जिससे नाडोल और आबू के परमारों के माध्यम से सीमाएँ विवादित हो गईं। 1184–1187 ई. के दौरान पृथ्वीराज ने विभिन्न अभियानों और युद्धों के माध्यम से चालुक्यों को चुनौती दी। हालांकि, यदि कोई सन्धि बनी रही, तो वह केवल ऊपरी स्तर की थी और द्विपक्षीय वैमनस्य भीतर ही भीतर बना रहा।

गड़वाल विजय में भी दिल्ली और गहड़वालों के बीच वैमनस्य स्वाभाविक था। जयचन्द की महत्वाकांक्षा और पृथ्वीराज की दिग्विजय योजना दोनों के लिए चुनौती बनती रही। पृथ्वीराज द्वारा भण्डानकों, चन्देलों और चालुक्यों की शक्ति को चुनौती देने के कारण गहड़वालों के लिए यह असहनीय था। संयोगिता विवाह जैसी घटनाओं ने इस संघर्ष को और रोचक बना दिया, लेकिन अन्ततः गहड़वालों और अन्य राज्यों का गठबंधन पृथ्वीराज के दिग्विजय प्रयासों के खिलाफ गया।

पृथ्वीराज और तुर्क अभियान में, पृथ्वीराज तृतीय ने अपने विशाल राज्य की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए तुर्की राज्यों के साथ संघर्ष किया। उसका साम्राज्य सतलज से बेतवा और हिमालय से आबू तक विस्तृत था, इसलिए तुर्की सीमा से संपर्क और संघर्ष स्वाभाविक था। इस प्रकार, उसके सैन्य अभियान उसकी दिग्विजय नीति और सीमावर्ती सुरक्षा की आवश्यकता का परिणाम थे। ये अभियान उसके समय में शक्ति संतुलन बनाए रखने के उद्देश्य से किए गए, लेकिन सामरिक और राजनीतिक चुनौतियों के कारण इनका अंतिम प्रभाव सीमित रहा।

तराइन का प्रथम युद्ध 1191 ई. में मुहम्मद गौरी ने भारत पर हमला किया और तबरहिन्द पर विजय प्राप्त की। दोनों सेनाएँ तराइन मैदान, करनाल में आमने-सामने हुईं। गौरी के भाले के वार का

दिल्ली के राजा गोविन्द राय ने सामना किया और उसे गंभीर चोट लगी। भागती हुई गौरी की सेना गजनी तक पीछे हट गई। पृथ्वीराज चौहान ने तबरहिन्द का दुर्ग काजी जियाउद्दीन से छीन लिया। इस युद्ध में आक्रमणकारियों को पहला गंभीर पराजय अनुभव हुआ। इस घटना का वर्णन पृथ्वीराज रासो, चन्दरवरदायी, हसन निजामी की 'ताजुल मासिर' और मिनहाज-उल-सिराज की 'तबकात-ए-नासिरी' में मिलता है।

इस युद्ध ने भारत में 1192 ई. के तराइन के द्वितीय युद्ध के लिए मार्ग तैयार किया। द्वितीय युद्ध में चौहानों और राजपूतों की सम्मिलित शक्ति की पराजय ने भारत की राजनीतिक और धार्मिक स्थिति बदल दी। यह पराजय मुस्लिम साम्राज्य की नींव के लिए अवसर बनी और उत्तर भारत में कई वर्षों तक राजपूतों की शक्ति क्षीण हुई। डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार इस पराजय ने हिन्दू धर्म पर भी गंभीर असर डाला, शासकों और राजपूतों का साहस टूट गया और देश में आतंक फैल गया।

महत्वपूर्ण परिणाम इस प्रकार हैं:

1. अजमेर और दिल्ली पर चौहानों का लगभग 250 वर्ष पुराना शासन समाप्त हो गया।
2. गौरी के लिए भारत में मुस्लिम शासन का प्रसार मार्ग खुल गया।
3. हिन्दुओं में अंतर्निहित विभाजन का लाभ मुस्लिम आक्रमणकारियों को मिला।
4. 1200 ई. के बाद उत्तर भारत में बौद्ध धर्म के चिन्ह धीरे-धीरे धुंधले और अस्पष्ट हो गए।

पृथ्वीराज चौहान का उदय भारतीय इतिहास के निर्णायक काल—पूर्वमध्यकाल और मध्यकाल के संधिकाल—में हुआ। यह काल प्राचीन और मध्ययुग के बीच की कड़ी है, जिसमें राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ परस्पर मिश्रित थीं। ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों में पृथ्वीराज ने तदुयुगीन प्रवृत्तियों को आत्मसात कर इतिहास को नया मोड़ देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

'पृथ्वीराज प्रबन्ध' में उनकी जीवन-घटनाओं का संक्षिप्त विवरण मिलता है। शाकम्भरी चौहान नृपति सोमेश्वर के दो पुत्र थे—पृथ्वीराज और यशोराज। पृथ्वीराज का जन्म वि.सं. 1220 में हुआ और 1236 (1179 ई.) में पिता की मृत्यु के बाद राज्यारोहण किया। प्रारंभिक दो वर्षों तक उसने अपनी माता के संरक्षण में शासन किया। अपने प्रशासन की शुरुआत में उसने सेनापति प्रतापसिंह और मंत्री कदम्बवास को नियुक्त किया। दोनों मंत्रियों में अक्सर मतभेद रहते थे।

पृथ्वीराज का मुख्यालय योगिनीपुर में था, और उसका राजमहल न्याय की दृष्टि से प्रसिद्ध था। यशोराज हांसी में स्थित था। गढ़वाल के शासक जयचन्द के साथ उनकी वैरभावना स्वाभाविक थी, और प्रबन्ध साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है। जयचन्द ने पृथ्वीराज की मृत्यु पर उत्सव मनाया।

पृथ्वीराज ने मोहम्मद गौरी का सामना भी किया। अपने मंत्री कदम्बवास की सलाह से उसने दो लाख अश्व, पचास हाथी और पैदल सेना के साथ युद्ध किया। कई बार उसने तुर्कों को परास्त किया और जीवित पकड़े गए सुल्तान को करद शासक बनाकर छोड़ दिया। पृथ्वीराज रासो में इस युद्ध का विवरण 21 मुठभेड़ों में मिलता है।

मंत्री कदम्बवास की हत्या की घटना भी प्रबन्ध में वर्णित है। सेनापति प्रतापसिंह ने गजनी से राज्य के धन का दुरुपयोग किया और झूठी शिकायत करके मंत्री पर शक कराया। क्रोधित पृथ्वीराज ने मंत्री पर बाण चलाया और उसकी मृत्यु हुई। इस षड्यंत्र का पता चन्द्र बलादिक नामक भाट को चला, जिसके बाद राजा ने दरबारी कवि को राज्य से निकाल दिया।

मंत्री कदम्बवास के मारे जाने के बाद उसके स्थान पर प्रतापसिंह के भतीजे को नियुक्त किया गया, लेकिन उसे शक्तिशाली समझकर बाद में कैदखाने में डाल दिया गया। मंत्री की मृत्यु के बावजूद प्रतापसिंह के मन में बदले की भावना कम नहीं हुई और उसने सुल्तान को पृथ्वीराज पर आक्रमण के लिए आमंत्रित किया। तुर्की सेना के आगमन पर पृथ्वीराज ने 3 लाख अश्व, 10 हजार हाथी, असंख्य पैदल सैनिक और 150 सामंतों के साथ उनका सामना किया। इस तथ्य की पुष्टि तारीख-ए-फरिश्ता जैसे ऐतिहासिक स्रोतों से भी होती है।

युद्ध के समय पृथ्वीराज कुछ निष्क्रिय रहा। विवाह के बाद उसने राजकीय और सैनिक कार्यों में उपेक्षा कर दी थी। दस दिनों तक उसने कोई कार्रवाई नहीं की, तब उसकी बहन ने चेतावनी दी कि कई सामंत मारे जा चुके हैं और कुछ भाग गए हैं। इसके बाद पृथ्वीराज नटारम्भा अश्व पर सवार होकर युद्ध क्षेत्र में गया। यशोराज ने उसे युद्ध में सहायता प्रदान की, लेकिन वह स्वयं युद्ध करते हुए मारा गया।

तुर्क सेना ने अंततः पृथ्वीराज को बंदी बना लिया और योगिनीपुर ले जाकर कैद किया। सुल्तान ने उससे पूछा कि यदि उसे मुक्त किया जाए तो क्या करेगा। पृथ्वीराज ने कहा कि यदि उसका धनुष मिल जाए तो वह उसे मार डालेगा। इसके बाद प्रतापसिंह ने सुल्तान को पूरी बात बता दी। जब राजा ने बाण चलाया, तो लोहे के पुतले टूट गए, लेकिन दूसरी बार सुल्तान ने पृथ्वीराज की हत्या कर दी।

विभिन्न ग्रंथ जैसे डॉ. दशरथ शर्मा की अर्ली चौहान डायनेस्टीज, वी. आर. भ्रासोर और जमील उल हकीकत इस घटना की पुष्टि करते हैं। पृथ्वीराज को अजमेर लाया गया और राजतिलक कर शासक बनाया गया। गौरी द्वारा जारी सिक्कों से भी इस संयुक्त शासन की पुष्टि होती है।

हालांकि, उपयुक्त प्रबन्ध साहित्य में सत्य और असत्य दोनों का मिश्रण है। तथ्यों की पूर्ण पुष्टि के लिए ठोस ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। उदाहरण के लिए, आक्रमणों की संख्या में मतभेद है—कहीं 22 आक्रमण, कहीं 7-8। युद्ध के समय सोने की कथा 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' और 'पृथ्वीराज रासो' दोनों में मिलती है। यह ग्रंथ ऐतिहासिक स्रोत नहीं, बल्कि साहित्यिक ग्रंथ है। फिर भी, राजनीतिक और सांस्कृतिक अध्ययन में इसका महत्त्व अनदेखा नहीं किया जा सकता।

निष्कर्षतः पृथ्वीराज चौहान का युग भारत के पूर्व-मध्यकाल और मध्यकाल के संधिकाल का महत्वपूर्ण काल था। उसने चौहान साम्राज्य के प्रशासन, सेना, राजस्व, न्याय और धार्मिक सहिष्णुता में अपनी प्रभावशाली भूमिका निभाई। मंत्री कदम्बवास और प्रतापसिंह जैसे प्रभावशाली पदाधिकारी उसकी सफलता और विफलताओं में योगदान करते रहे। पृथ्वीराज ने जैन और बौद्ध धर्म सहित विभिन्न धर्मों का सम्मान किया, हिन्दू धर्म में वैदिक, शैव और वैष्णव सम्प्रदायों को प्रोत्साहित किया। उसकी

दिग्विजय नीति से सामन्तों और पड़ोसी राज्यों पर विजय मिली, जैसे महोबा, चालुक्य और गहड़वाल राज्यों पर। फिर भी यह नीति दीर्घकालिक दृष्टि से सीमित लाभ दे सकी।

1191 ई. में प्रथम तराइन युद्ध में उसने मुहम्मद गौरी को परास्त किया, लेकिन 1192 ई. के द्वितीय तराइन युद्ध में पराजय मिली। इस पराजय से चौहान शासन का अजमेर और दिल्ली में लगभग 250 वर्ष पुराना अधिकार समाप्त हुआ, भारत में मुस्लिम साम्राज्य की नींव पड़ी और हिन्दू साम्राज्य कमजोर हुआ। पृथ्वीराज प्रबन्ध और अन्य साहित्यिक स्रोत उसकी वीरता, प्रशासनिक नीति, युद्ध और धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का चित्र प्रस्तुत करते हैं, हालांकि इनमें ऐतिहासिक तथ्यों और कथा का मिश्रण है। इस प्रकार पृथ्वीराज का जीवन और कार्यकाल भारतीय मध्यकालीन इतिहास में निर्णायक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण साबित हुआ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1975*
2. *'पृथ्वीराज रासो' चंद्रबरदाई : (मानक आधुनिक संस्करण): सम्पादक श्यामसुन्दरदास बनारसीदास, बनारस 1940*
3. *उपेन्द्र ठाकुर, हैरिटेज ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली 1978*
4. *'History of the Rajputana' - Gaurishankar Hirachand Ojha, Rajasthan Granthagar, जोधपुर 1927*
5. *Early Medieval India : 750-1200', R. S. Sharma, New Delhi 2001*
6. *Medieval India : From Sultanate to the Mughals (Vol. v) - Satish Chandra, Delhi 1997*
7. *दशरथ शर्मा, चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, 1972*
8. *पृथ्वीराज रासो, मोहन लाल पाण्ड्या, नागरी प्रचारनी सभा, बनारस, 1906*
9. *महाराजा पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) का अभिलेख, राजस्थान के अभिलेख, गोविन्दलाल श्रीमती मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, 2000*
10. *एनाल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज ऑफ राजस्थान, जेम्स टॉड एम.एन. पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1983*